चतुर्थ अंक

(नंदन वन के कुंजों की ओट लिये विंध्याचली, उर्वशी, रंभा आदि अप्सराओं से घिरी बैठी है। एक उड़ते हुए भ्रमर को लक्ष्य करके वे बारी-बारी से गाती हैं।)

उर्वशी— मधुप! तुम भूल गये रस-केलिऽ
नंदन के सुख भोग भुलाकर यह क्या विपदा ले ली!

खड़ी झरोखे जोह रही पथ घर की प्रिया नवेली—
चित्र-लिखित सी, स्मर-शरबेधी, मानो मृगी अकेली
कुसुम-रचित कोमल शैया की भूले तुम रंगरेली
जोगी रे! क्यों भस्म रमाई पहन सुमरनी, सेली
मिलते भृंग-भृँगी, तरु ने लतिका की बाँह गले ली
अब भी लौटो, व्यथा विरह की जो कुछ झेली, झेली

रंभा— मधुप तुम कब से हुए विरागी!
अधरों की सुकुमार पँखुरियाँ सांध्य-कमल-सी त्यागी
कंजकली के नवयौवन की पहले भिक्षा माँगी
दूर उड़े सचकित चुंबन से जब वह सरला जागी
तुम तो पुण्य कमाने निकले, किन पापों की भागी
मछली सी पर तड़प रही वह विरहिन वधू अभागी
ऐसा तप देखा न कहीं था, योगी हो या यागी
जलना आप, जलाना सबको जोड़ कठिन विरहागी

तिलोत्तमा—मधुकर यह मधुवन क्यों भूले
नंदन भी कुम्हलाये इसकी छाया जो छू ले
पाटल-अधर, नासिका-चंपा, कच-तमाल-कूले
मुक्तावलि मिस पंक्तिबद्ध सित बैठे हैं बगुले
कंज-कपोल, खड़ी कुंजों में नलिनी आँसू ले
प्यारे अंगु-प्रियंगु तुम्हीं से मिलने को फूले

साँस समीर-सुगंध बह रही, बाहुलता झूले
एक वियोग तुम्हारा साजन काँटे-सा हूले

उर्वशी— मधुप तुम भूले प्रीति पुरातन
सूख रहा नयनों के सम्मुख प्यारा नंदन कानन
छुटती नहीं हास-फुलझड़ियाँ, चलते हैं दृग-बाण न
आठ पहर रोती वनरानी नीचा करके आनन
लता-विटप उलझे, झुलसे तृण, फिरते मृग-पंचानन
बिना तुम्हारे उजड़ गयी वह सुषमा आनन-फानन

विंध्याचली—मना लूँ मन को तो सजनी
जीवनधन के बिना कटे क्योंकर पावस की रजनी!
तप करने निकले मनमोहन, वन के भाग्य जगे री
सूनी सेज पड़ी ऐसे नंदन में आग लगे री
सजनी तुझको रामदुहाई, उनसे कह दे जाकर
धूनी बनी विरहिनी जल-जल, से लें घर ही आकर
योगीश्वर कहलाते शंकर उमा-अधर-रस-भोगी
जो वियोग की पीर समझते वे हैं सच्चे योगी

रंभा— मधुकर तुम हो बड़े प्रवीण
कंज कली को आँख दिखाते सौरभ उसका छीन!
तुम्हें चाहिये केलि-भवन में कलियाँ नित्य नवीन
इसीलिये मुँह फुला हुए मृगचर्मासन-आसीन
भूले अब घर की सुध-बुध भी यों व्रत में हो लीन
देखो तड़प रही विरहिन ज्यों दीन मीन जलहीन

विंध्याचली—सखी री समय-समय की बात
और नहीं तो वे ही दिन हैं, वैसी ही है रात
धीरज-धीरज चिल्लाते जो अब प्रति सायं-प्रात
कभी अधीर स्वयं झकझोरा करते थे आ गात

झुक-झुक थे जो हमें मनाते ज्यों कलियों को वात
मुँह लेते हैं फिरा आज वे पड़ते दृष्टि हठात्
भूल चुके हैं जब प्रियतम ही इन नयनों की घात
किसके पास पुकारें जाकर हम अबला की जात

उर्वशी— अवधि में क्या हो, किसे पता!

लिपट रही लहराकर तरु से ललित लवंग-लता
कब तक मन की पीर सँभाले तरुणी नवागता!
वन-वन ढूँढ़ रही है अपने पति को पतिव्रता
झुक चुंबन देतीं मधुपों को कलियाँ केलि-रता
रो-रोकर ही घुल जायेगी क्या यह सुंदरता!

रंभा— सखी री! इतने बैरी तेरे

पावस मास, शरद की रजनी, संध्या और सवेरे
कुसुम-कुंज, कोयल जो गाती उठकर बड़े अँधेरे
पूर्ण चंद्र, जब उसको कोई काला बादल घेरे
मधुकर-सैन्य, पपीहा-कूजित तरु-पल्लव के डेरे
रतिपति सुमन-शरासन पर जब हँसकर चितवन फेरे
दिखते नहीं दीर्घ भुज वे तनु-रक्षक तेरे-मेरे
माधव क्यों अन्यथा, सखी! यों घायल तुझको घेरे!

उर्वशी— अमरे! तुझसे अच्छी काशी

जहाँ रहा करते हैं मुड़िया, यती और संन्यासी
मंदिर-मंदिर नृत्य वहाँ भी करती है सुरदासी
प्रणय-कटाक्ष-चपल मृगनयनी, रंभा-तिलोत्तमा-सी
क्वणित सुवर्ण-गृहों में हँसते नागर नये विलासी—
नव वधुओं सँग, भवन-भवन यों दिखती नहीं उदासी
काशी भूतनाथ की नगरी, हम नंदनवन-वासी
कैसे धीर धरे दृग-शफरी जल में रहकर प्यासी!

विंध्याचली—सखी री! बीत गये दिन कितने!

वारिधि-विंदु, रसा के रज-कण, नभ के नखत न जितने

युग से पल, दिन कल्पांतर से, ब्रह्मा के दिन-सी निशि
तिथि-दर्शक कुसुमों से घर के द्वार रुँधे चारों दिसि
संध्या से ही बुझती आँखें, पाँखे ज्यों सरसिज की
सुख-सुहाग की रजनी, सजनी! छजनी बनी क्षितिज की
अगणित शरद, वसंत फिर गये, ग्रीष्म, श्याम बरसातें
भूल चुके होंगे जीवन-धन इन नयनों की घातें

(एक दूत का प्रवेश)

दूत— प्रलय-घनों से काले पंख फुलाये
एक गरुड़ देखा मैंने सपने में
रक्त चंचु में श्वेत भुजंग लपेटे
उड़ा जा रहा था वह तिमिर घने में
कोटि भानु-से ज्वलित क्रुद्ध दृग चमका
एक सुवर्ण अचल का सबसे ऊँचा
रत्न-शिखर ढा दिया चरण से उसने
काँप उठी धरती, ब्रह्मांड समूचा

रंभा— विरह की यह तो पीर नहीं
अंग छिदें जिससे मन्मथ का ऐसा तीर नहीं
वह बेधा करता प्राणों को, शीर्ण शरीर नहीं
यो विक्षुब्ध न होते उसमें गगन-समीर-मही
ये सब अशुभ स्वप्न की बातें अंतर चीर रहीं
भटक रहे प्रिय जिसमें, मृगतृष्णा है, नीर नहीं

विंध्याचली—मैंने जो व्रत-नेम किये
न्यौछावर जीवन-धन पर, वे सुख से सदा जियें
हँसती मूक रहे प्राणों में ज्वालामुखी सिये
नारी का जीवन होता है जग में इसी लिए

(चर का प्रवेश)

चर— सुसंवाद, त्रिकालज्ञ गुरुवर ने देवताओं की चाल विफल करने के लिए निन्यानबे यज्ञों की आहुतियाँ अल्पकाल में ही पूर्ण कर दी हैं। कल सौवें यज्ञ की अंतिम आहुति पड़ेगी।

विंध्याचली—फड़कती क्यों यह दायीं आँख
जैसे मिलन-प्रहर में पुलकित खगबाला की पाँख
तनिक न धीरज मिलता मन को समझाती हूँ लाख
फिर से तरु में जुड़ा न पाती जैसे टूटी शाख
अंग रचूँगी चंदन, सखि! मैं, जहाँ रमायी राख
आँधियाले के बाद हमारा है उजियाला पाख

उर्वशी— नयन के शर-संधान किये
ओ अलबेली! मत चल इतना गर्व-गुमान किये
हसित पुतलियाँ, श्रवणोत्सुक सी आँखें कान दिये
लट लटकी ज्यों मत्त मधुपगण, छवि-मधु-पान किये
उड़ता अंचल-छोर, निशा-बंधन से त्राण किये
मानो युग अरविंद खिले हों स्वर्ण-विहान लिये
देख खड़ा है मन्मथ सम्मुख कर धनुबाण लिये
एक बार बिँध पीर प्रणय की मिटी न प्राण दिये

(पटाक्षेप)